स्याद्वाद-विमर्श

स्याद्वाद : जैनदर्शनका मौलिक सिद्धान्त

'स्याद्वाद' जैन दर्शनका एक मौलिक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। 'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दोंसे बना है। यहाँ 'स्यात्' शब्द अव्यय निपात है, 'क्रिया' शब्द या अन्य शब्द नहीं है। इसका अर्थ कथंचित्, किंचित्, किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्मकी विवक्षा, कोई एक ओर, है। और 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो 'स्यात्' (कथंचित्) का कथन करने वाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह 'स्याद्वाद' है। अर्थात् जो विरोधी धर्मका निराकरण न करके अपेक्षासे वस्तु-धर्मका प्रतिपादन (विधान) करता है उसे 'स्याद्वाद' कहा गया है।[1] कथंचित्वाद, अपेक्षावाद आदि इसी के नामान्तर हैं—इन नामोंसे उसीका बोध किया जाता है।

स्मरण रहे कि वक्ता अपने अभिप्रायको यदि सर्वथाके साथ प्रकट करता है तो उससे सही वस्तुका बोध नहीं हो सकता और यदि 'स्यात्' के साथ वह अपने अभिप्रायको प्रकट करता है तो वह वस्तु-स्वरूपका यथार्थ प्रतिपादन करता है। क्योंकि कोई भी धर्म वस्तुमें 'सर्वथा'—ऐकान्तिक नहीं है। सत्त्व, असत्त्व, नित्यता, अनित्यता, एकत्व, अनेकत्व आदि भी धर्म वस्तुमें हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे उसमें विद्यमान हैं। सत्त्व असत्त्वका, नित्यत्व अनित्यत्वका, एकत्व अनेकत्वका और वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्वका नियमसे अविनाभावी है। वे एक दूसरेको छोड़कर नहीं रहते। हाँ, एककी प्रधान विवक्षा होनेपर दूसरा गौण हो जायेगा। पर वे धर्म रहेंगे सभी। इसीसे वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। इस विषयको जैन विचारक आचार्य समन्तभद्रने[2] बहुत स्पष्टताके साथ समझाया है। अतः प्रत्येक वक्ता जब कोई बात कहता है तो वह 'स्याद्वाद' की भाषामें कहता है। भले ही वह स्याद्वादका प्रयोग करे या न करे।

स्याद्वादका सार्वत्रिक उपयोग

लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसमें स्याद्वादका उपयोग न किया जाता हो। जीवनके दैनिक व्यवहारसे लेकर मुक्ति तकके सभी विषयोंमें स्याद्वादका उपयोग होता है और हर व्यक्ति उसे करता है। टोपी, कुरता, धोती आदि जितने शब्द और संकेत हैं वे सब विवक्षित अभिप्रायोंको प्रकट करनेके साथ ही अविवक्षित गौण अभिप्रायोंकी भी सूचना करते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें कहते समय या सुनते समय उन गौण अभिप्रायोंकी ओर वक्ता या श्रोताका ध्यान न जाय, क्योंकि उसका काम

---

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किवृत्तचिद्विधिः। सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः॥
—समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०४।

२. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः। सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते॥
सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः। स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम्॥
—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र १०४, १०५।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवक्षित अभिप्रायसे सम्पन्न हो जाता है। पर यह बात नहीं कि वे अविवक्षित अभिप्राय उसमें विद्यमान न हों। स्याद्वाद इसी ऐकान्तिकताका निषेध करता है और अनेकान्तका विधान करता है। और तो क्या, वह अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना करता है और यह अचरज करनेकी बात नहीं है। जिसे हमने अनेकान्त कहा है वह समष्टिको ध्यानमें रखकर ही तो कहा है, पर व्यष्टि (एक-एक धर्म-अभिप्राय) की अपेक्षासे तो वह अनेकान्त नहीं है, एक-एक अभिप्राय है। इस तरह अनेकान्तको भी स्याद्वादने समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षाओंसे अनेकान्त बतलाया है।[1] और यह अतात्त्विक या व्यर्थ जैसी चीज नहीं है। वस्तु हो जब वैसी स्वभावतः हो तो उसकी वैसी ही व्याख्या होनी चाहिए। हमें जो ऐकान्तिक दृष्टिसे देखनेकी लत पड़ी हुई है उसीसे हम उक्त प्रकारके प्रतिपादनको अतात्त्विक या व्यर्थ कहने लगते हैं। अतः वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखना है तो हमें इस एकान्त दृष्टिके सदोष चश्मेको दूर कर स्याद्वाद-दृष्टिके निर्दोष सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रको लगाकर ही वस्तुके स्वरूपको देखना चाहिए और वैसी ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

स्याद्वाद और अनेकान्तवादका सम्बन्ध

कुछ विद्वानोंका कथन है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक हैं—एक ही अर्थके प्रतिपादक दो शब्द हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। इन दोनोंमें उसी तरहका भारी अन्तर है जिस तरहका प्रमाणवाद और प्रमेयवादमें, या ज्ञानवाद और ज्ञेयवादमें है। वस्तुतः स्याद्वाद व्यवस्थापक है और अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य। अथवा स्याद्वाद वाचक (प्रतिपादक) है और अनेकान्तवाद प्रतिपाद्य। दोनों स्वतन्त्र हैं। पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक या वाच्य-वाचक सम्बन्धसे वे परस्परमें ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे शब्द और अर्थ, प्रमाण और प्रमेय, ज्ञान और ज्ञेय। इस तरह इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है और दोनों ही भिन्नार्थक हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्याद्वाद जब भी वस्तुकी व्यवस्था करेगा, तब 'सप्तभङ्गी' के द्वारा करेगा। अतः स्याद्वाद वक्ताका वचनस्थानीय है, अनेकान्तवाद वस्तुस्थानीय है और सप्तभंगीवाद प्रयोगसाधनस्थानीय है। चूँकि अनेकान्त-स्वरूप वस्तु स्वयं अपने आपमें समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षा तथा प्रमाण और नयकी विवक्षासे अनेकान्त तथा एकान्त दोनों रूप है। इसलिए उसकी साधन-प्रक्रिया—सप्तभंगी भी दो प्रकारकी कही गई है। एक प्रमाणसप्तभङ्गी और दूसरी नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गीके द्वारा स्याद्वाद अनेकान्कस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका और नयसप्तभङ्गी द्वारा उसी अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन करता है। यहीं इन तीनों—स्याद्वाद, सप्तभङ्गीवाद और अनेकान्तवादमें गौलिक भेद है। यहाँ सप्तभङ्गी-वादसे उन सात भङ्गों (उत्तर वाक्यों) के समुच्चयसे अभिप्राय है, जिनके माध्यमसे वक्ता अपने अभिप्रायको प्रकट करता है और प्रश्नकर्ताके प्रश्नोंका समाधान करता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवाद

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवादका स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथापि उनके सम्बन्धमें थोड़ा प्रकाश और डालना आवश्यक है। 'अनेकान्तवाद' पदमें तीन शब्द हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ यहाँ उसके नानार्थक होते हुए भी धर्म विवक्षित है और वादका अर्थ मान्यता अथवा कथन है। पूरे पदका अर्थ हुआ नाना-धर्मात्मक वस्तुकी मान्यता अथवा कथन। इस तरह नानाधर्मात्मक वस्तुका नाम अनेकान्त और उसके स्वीकारका नाम अनेकान्तवाद है।

---

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥ —समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुमें सामान्य, विशेष, गुण, पर्याय आदि अनन्त धर्म भरे पड़े हैं। उनमेंसे एक ही धर्मको या एक धर्मात्मक ही वस्तुको स्वीकार करना एकान्तवाद है। सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि एकान्तवाद हैं। एकान्तवादके स्वीकार करनेमें जो सबसे बड़ा दोष है वह यह है कि उन सामान्य-विशेष आदिमेंसे केवल उसी एकको माननेपर दूसरे धर्मोंका तिरस्कार हो जाता है और उनके तिरस्कृत होने पर उनका अभिमत वह धर्म भी नहीं रहता, जिसे वे मानते हैं, क्योंकि उनका परस्पर अभेद्य सम्बन्ध अथवा अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु विवक्षित और अविवक्षित धर्मोंको मुख्य तथा गौण दृष्टिसे स्वीकार करनेमें उक्त दोष नहीं आता। अतएव अन्तिम तीर्थंकर महावीरने बतलाया कि यदि अविकल पूरी वस्तु देखना चाहते हो तो उन एकान्तवादोंके समुच्चयस्वरूप अनेकान्तवादको स्वीकार करना चाहिए—उनकी परस्पर सापेक्षतामें ही वस्तुका स्वरूप स्थिर रहता और निखरता है। यही अनेकान्तवाद है, जिसकी व्यवस्था स्याद्वादके द्वारा बतायी जा चुकी है।

सात उत्तरवाक्योंके समुदायका नाम सप्तभङ्गी है। यहाँ 'भङ्ग' शब्दका अर्थ उत्तरवाक्य अथवा वस्तुधर्म विवक्षित है। जिसमें सात उत्तरवाक्य या धर्म हों, उसे सप्तभंगी कहते हैं। यह वक्ताकी प्रतिबोध्यको समझानेकी एक प्रक्रिया है।[1] इसके स्वीकारका नाम सप्तभङ्गीवाद है। इस सप्तभंगीमें सात ही उत्तरवाक्योंका नियम इसलिए है कि प्रश्नकर्ताके द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं, और उन सात ही प्रश्न किये जानेका कारण उसकी सात ही जिज्ञासाएँ हैं तथा सात जिज्ञासाओंका कारण भी वस्तुके विषयमें उठने वाले उसके सात ही सन्देह हैं और इन सात सन्देहोंका कारण वस्तुनिष्ठ सात ही धर्म हैं।[2] यों तो वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। किन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेध (है, नहीं) की अपेक्षासे सात ही धर्म उसमें व्यवस्थित हैं वे सात धर्म इस प्रकार हैं--सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व (अनुभय) सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व। इन सातसे न कम है और न ज्यादा। इन सातमें तीन भङ्ग (सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व) मूलभूत हैं, तीन (उभय, सत्त्वावक्तव्यत्व और असत्त्वावक्तव्यत्व) द्विसंयोगी हैं और एक (सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व) त्रिसंयोगी है। उदाहरणस्वरूप नमक, मिर्च और खटाई इन तीन मूल स्वादोंके संयोगज स्वाद चार और बन सकते हैं और कुल सात ही हो सकते हैं। उनसे न कम और न ज्यादा।

अतः इन सात धर्मोंके विषयमें प्रश्नकर्ताके द्वारा किये गये सात प्रश्नोंका उत्तर सप्तभङ्गों—सात उत्तरवाक्योंके द्वारा दिया जाता है। यही सप्तभंगीन्याय अथवा शैली या प्रक्रिया है, जो वस्तुसिद्धिके लिए स्याद्वादका अमोघ साधन है।

●

---

१. न्यायदीपिका पृ० १२७, तत्त्वार्थवार्त्तिक १-६, जैनतर्कभाषा, पृ० १९।

२. अष्टसहस्री पृ० १२५, १२६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org